आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2018
वर्ष 4, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2018, पृ. 3–18

आदर्श समाज की परिकल्पना : भारतीय समाज के विशेष संदर्भ में

रामगोपाल सिंह*

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जो हम हैं, वह यथार्थ है और जो हम हैं तो नहीं लेकिन होना चाहते हैं, वह आदर्श है। इससे एक आशय तो यह निकलता है कि आदर्श यथार्थ से उत्कृष्ट है, और यदि हम किसी विशेष संदर्भ में आदर्श की बात करते हैं, तो इससे दूसरा आशय यह निकलता है कि उस संदर्भ में हम यथार्थ से संतुष्ट नहीं हैं। वैसे देखा जाए तो हम यथार्थ या वर्तमान से बहुत सी बातों में या वर्तमान की बहुत सी वस्तुओं से संतुष्ट नहीं होते हैं और उनमें उत्कृष्ट या आदर्श स्थिति की प्राप्ति की आकांक्षा रखते हैं और इसके लिए सामान्यतः प्रयास भी करते हैं। किंतु अगर यह देखा जाए कि इनमें वह कौन सी बात या कौन सी वस्तु है जो सार्वकालिक व सार्वभौमिक रूप से आदर्श के रूप में आकांक्षित रहती है, आज भी आकांक्षित है और आगे भी आकांक्षित रहेगी, तो वह है आदर्श समाज या अपने सपनों का समाज। यह आदर्श समाज निश्चित रूप से उस समाज से उत्कृष्ट होता है जिसमें हम रह रहे होते हैं।

आदर्श समाज की आकांक्षा सार्वभौमिक व सार्वकालिक रूप से सर्वाधिक इसलिये होती है क्योंकि समाज मानव जीवन का मूल है। क्योंकि समाज मानव जीवन का आधार है। समाज है तो हम हैं। समाज में हम पैदा होते हैं, समाज में जीते हैं और समाज में ही मरते हैं। समाज हमारा जीवन है। समाज हमारा सब कुछ है। समाज न होता तो न धर्म होता, न संस्कृति होती, न राज्य होता, न शासनतंत्रा होता, न विज्ञान होता और न ही तकनीकी प्रगति होती, न झोपड़ी होती, न महल होता, न बैलगाड़ी होती और न ही जेट विमान होता। समाज के अभाव में हमारे लिए उन्नति व विकास के सपने देखना तो दूर, जीवित रह पाना मुश्किल होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जीवन में अन्य सभी चीजों की तुलना में समाज की भूमिका सबसे अहम है। अभी तक हम जैसे थे, समाज की वजह से थे। आज हम जैसे हैं, समाज की वजह से हैं। अगर हमारा समाज उन्नत है तो हम उन्नत हैं। अगर हमारा समाज अवनत है तो हम अवनत हैं। हम अंडमान निकोबार या अबूझमाड़ में न्यूटन,

---

*अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, बाबासाहेब अम्बेडकर सामाजिक विज्ञान संस्थान, महू, म.प्र.

आइस्टीन, जेम्सवाट, फैराडे या बुद्ध, विवेकानंद अथवा कौटिल्य या कार्लमार्क्स की कल्पना नहीं कर सकते।

जब हम यह कहते हैं कि आदर्श समाज की खोज एक सार्वभौमिक व सार्वकालिक प्रक्रिया है जो आदिकाल से अब तक सतत जारी है और आगे भी जारी रहेगी तो कोई भी यह सवाल उठा सकता है कि क्या आदिकाल से लेकर अब तक आदर्श समाज दुनिया को मिला ही नहीं जो उसकी खोज अब तक जारी है। और अगर नहीं मिला तो फिर क्या दुनिया को इतनी अक्ल नहीं है कि ऐसी वस्तु की खोज को वह आगे जारी क्यों रखे? इसके जवाब में एक तो यह कहा जा सकता है कि समय और परिस्थिति में बदलाव से लोगों की अपेक्षाओं और आदर्श की संकल्पना में बदलाव आता है और दूसरे यह कि जब किसी अपेक्षित आदर्श को प्राप्त कर लिया जाता है तो अक्सर उसे लम्बे समय तक आदर्श के रूप में बनाये रख पाना संभव नहीं होता, क्योंकि समाज का जो वर्ग समाज को आदर्श बनाने में मुख्य भूमिका निभाता है, समाज के आदर्श बनने के बाद समाज की सत्ता पर उसकी पकड़ मजबूत हो जाती है, जो अक्सर लम्बे समय तक बनी रहती है। लम्बे समय तक सत्ता में बने रहने से समाज में संप्रभु वर्ग का सत्ता में निहित स्वार्थ जुड़ जाता है। ऐसे में सत्ता पर अपनी पकड़ के आधार पर वह ऐसे विधान और वैचारिकी का विकास करता है और उसे लोगों पर थोपता है जिससे सत्ता पर उसकी पकड़ इतनी मजबूत हो जाए कि समाज के भीतर से उसके विरुद्ध चुनौती की कोई गुंजाइश नहीं रहे। निहित स्वार्थों के वशीभूत हो संप्रभुवर्ग द्वारा लागू की गई अन्याय व भेदभावपूर्ण विधान व वैचारिकी के चलते समाज में अन्याय व भेदभाव का विकास होता है जिससे समाज की एकता कमजोर होती है और समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे में अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध समाज में आंतरिक प्रतिरोध जागृत होता है जो धीरे–धीरे संगठित व उग्र होता जाता है। परिणामस्वरूप, समाज के संप्रभु वर्ग द्वारा थोपी गई अन्याय व भेदभावपूर्ण व्यवस्था की जगह एक भेदभावरहित न्याय, एकता व विकासपरक आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष पुनः शुरु हो जाता है। भारतीय समाज कोई इसका अपवाद नहीं है। वैदिक काल से लेकर अब तक उसकी आदर्शात्मकता में उतार–चढ़ाव आते रहे हैं और यह प्रक्रिया अभी भी जारी है और आगे भी जारी रहेगी। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि आज के भारतीय संदर्भ में आदर्श समाज की एक सार्थक व प्रभावी परिकल्पना क्या हो सकती है, से सम्बन्धित अध्ययन की यह पहल, वस्तुतः आदर्श समाज की खोज सम्बन्धी चलने वाली सतत प्रक्रिया के तहत एक प्रयास है।

आदर्श समाज एवं आदर्श सामाजिक संरचना

कोई समाज कैसा है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी संरचना कैसी है। अगर किसी समाज की संरचना आदर्श है तो वह समाज आदर्श होगा। आदर्श सामाजिक संरचना वस्तुतः एक द्विआयामी अवधारणा है। जिसमें एक वैयक्तिक आयाम है और दूसरा सामाजिक। ऐसे में किसी संरचना के आदर्श होने के लिए उसका इन दोनों ही आयामों पर आदर्श होना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, किसी संरचना के आदर्श होने के लिए उसका वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से आदर्श होना जरूरी है। व्यक्ति की दृष्टि से संरचना के आदर्श होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता, वैयक्तिकता एवं गरिमा तथा हितों की रक्षा करती हो और उसे विकास के अवसर एवं न्याय की प्रत्याभूति प्रदान करती हो। सामाजिक दृष्टि से किसी संरचना के आदर्श होने का अर्थ है कि वह समाज की एकता व संगठन को सुदृढ़ करती हो, उसकी निरंतरता बनाए रखती हो तथा उसके

विकास को बढ़ावा देती हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से एक आदर्श संरचना ऐसे सिद्धांतों पर आधारित एवं ऐसी विशेषताओं से सम्पन्न होती है जिनसे समाज की निर्मायक इकाइयों के बीच सम्बन्धों में सौहार्द, सामंजस्य और साहचर्य को बढ़ावा मिलता है, समाज की एकता मजबूत होती है और उसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है (सिंह, 2018अः11)।

आदर्श समाज की कसौटियाँ

किसी समाज के आदर्श होने अर्थात उसकी संरचना के आदर्श होने के लिए उसमें अर्थात उसकी संरचना में किन्हीं विशेषताओं का पाया जाना आवश्यक होता है। ये विशेषतायें उसके आदर्श होने की पहचान होती है। इन्हें आदर्श समाज की अथवा आदर्श समाज के संरचना की कसौटियाँ कहा जाता है। इन्हें प्राथमिक (या मूलभूत) तथा द्वितीयक (या विशिष्ट) कसौटियों के रूप में दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

प्राथमिक कसौटियों के अंतर्गत संरचना की वे विशेषतायें सम्मिलित होती हैं जो उसके आदर्श होने के लिए अपरिहार्य होती है। ये विशेषतायें वस्तुतः वे बुनियादी सिद्धांत हैं जिन पर आदर्श समाज का ढांचा बुना गया होता है। इसके अंतर्गत संरचना की तीन विशेषतायें सम्मिलित होती हैं। जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता अर्थात आदर्श संरचना की पहली मूलभूत कसौटी संरचना का न्यायपरक होना है। कोई संरचना न्यायपरक तभी होती है जबकि उसका ताना–बाना न्याय के सिद्धांत पर बुना गया होता है। दरअसल, न्याय आदर्श समाज और उसकी संरचना की बुनियाद है। न्याय के अभाव में कोई समाज लम्बे समय तक बना नहीं रह सकता। देर–सबेर उसका विनिष्ट होना निश्चित है। ऐसे में कोई विनाशोन्मुखी समाज अपना अस्तित्व तब तक नहीं बचा सकता जब तक कि उसमें न्याय की पुनर्स्थापना नहीं हो जाती। किसी समाज में न्याय की पुनर्स्थापना आन्तरिक प्रतिरोध के माध्यम से हो सकती है अथवा बाह्य हस्तक्षेप से हो सकती है। लेकिन अगर ऐसा नहीं होता है तो समाज को बचा पाना संभव नहीं होता।

आदर्श संरचना की दूसरी मूलभूत कसौटी उसका नैतिकतापरक होना है अर्थात नैतिकता के सिद्धांत पर आधारित होना है। व्यापक अर्थ में, नैतिकता न्याय का तर्क, बुद्धि एवं विवेकपरक मानवीय पक्ष है। संरचना के नैतिक नियमों पर आधारित होने से आशय यह है कि उसका ढांचा तर्क, बुद्धि एवं विवेकपरक नैतिक नियमों के आधार पर बुना गया होता है। आदर्श संरचना की तीसरी आधारभूत कसौटी उसका नवोन्मेषी होना है। नवोन्मेषिता से आशय कुछ नया खोजने, कुछ नया करने की उत्कंठा तथा नई चीजों को अपनाने और अपने को बेहतर बनने की चाहत का होना है। नवोन्मेषिता एक प्रवृत्ति है जो व्यक्ति व समाज को आगे की ओर देखने, आगे बढ़ने और विकास करने के लिए प्रेरित करती है। अगर संरचना नवोन्मेषी है अर्थात नवीनता उत्प्रेरक है तो वह समाज को विकासोन्मुखी बनाती है। उसमें विकास की प्रक्रिया को उत्प्रेरित करती है और विकास समाज की प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व व निरंतरता को बनाये रखने की दृष्टि से भी जरूरी होता है क्योंकि विकास के अभाव में संरचना चाहे वह कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो, गतिहीनता का शिकार हो अपक्षयित हो जाती है। परिणामस्वरूप, कालांतर में समाज अवनति व पतन को प्राप्त होता है। अतः संरचना के आदर्श होने के लिए उसके न्याय व नैतिकतापरक होने के साथ नवोन्मेषी होना भी जरूरी है। संरचना के नवोन्मेषी होने के लिए उसे वैचारिक आधार एवं तार्किक औचित्य प्रदान करने वाली वैचारिकी का नवोन्मेषी अर्थात सिद्धान्तावेषी और प्रगतिगामी होना जरूरी है। अगर

वैचारिकी सिद्धांत की जगह नियमबद्धता पर जोर देने वाली यथास्थितिवादी है तो संरचना के गतिहीनता ग्रस्त हो अपक्षयित व अवनत होने की संभावना अधिक होती है।

आदर्श संरचना की द्वितीयक या विशिष्ट कसौटियों के अंतर्गत संरचना की उन विशेषताओं को सम्मिलित किया जाता है जो संरचना को विशेषतया व्यावहारिक रूप से आदर्श बनाने में सहायक होती हैं किन्तु ये प्राथमिक या मूलभूत कसौटियों की विशेषताओं की भांति अपरिहार्य नहीं होतीं। दूसरे शब्दों में, ये विशेषतायें व्यावहारिक धरातल पर किसी संरचना व तत्सम्बन्धी समाज को उन्नत व आदर्श बनाने में सहायक तो होती हैं किन्तु अपरिहार्य नहीं होतीं। व्यापक अर्थ में आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के अंतर्गत आने वाली विशेषतायें उसके प्राथमिक कसौटी के अंतर्गत आने वाली विशेषताओं की विस्तार हैं और ये उन्हें सशक्त व प्रभावी बनाने में सहायक होती हैं। आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के अंतर्गत संरचना की जिन सात विशेषताओं को सम्मिलित किया जाता है, वे ये हैं: (1) आदर्श संरचना के घटक भाग संगतिपूर्ण व सहगामी होते हैं। दरअसल, संरचना के भागों के बीच अनुरूपता एवं संगति का पाया जाना समाज को सशक्त व उन्नत बनाने के लिये आवश्यक होता है। इसी प्रकार उनका सहगामी होना भी आवश्यक होता है क्योंकि अगर संरचना के अंगों के बीच संगति नहीं है और वे एक दूसरे के सहगामी न होकर प्रतिगामी हुये तो संरचना के लिये विकास की बात तो दूर अपना अस्तित्व बचाना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि किसी समाज की संरचना वेदान्त या बौद्ध वैचारिकी पर आधारित उदारवादी है किन्तु उसकी राजनीतिक उपसंरचना अधिनायकवादी या कट्टरपंथी है तो समाज की उन्नति होना नहीं अपितु अवनति होना निश्चित है।

(2) आदर्श संरचना की दूसरी, द्वितीयक कसौटीगत विशेषता यह है कि वह समाज में एकता व विकास को बढ़ावा देती है। दरअसल, एकता व विकास आदर्श संरचना के आवश्यक गुण हैं। एकता जहाँ समाज को मजबूत बनाती है वहीं विकास को बढ़ावा देती है। एकता के अभाव में समाज कमजोर होता है और एक कमजोर समाज के पतन व पराभव की संभावना बढ़ जाती है। एक सामान्य कहावत है कि जहाँ एकता होती है वहाँ से दासता दूर भागती है और जहाँ एकता का अभाव होता है वहाँ दासता का वास होता है। एकता के साथ विकास भी आदर्श संरचना का एक आवश्यक गुण है क्योंकि, जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि किसी संरचना के आदर्श होने के लिये उसका व्यक्ति व समाज की अपेक्षाओं पर खरा उतरना जरूरी होता है, जो विकास के बिना मुश्किल है।

(3) आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी सम्बन्धी तीसरी विशेषता उसका बर्हिमुखी होना है। दरअसल, बहिर्मुखता की प्रकशति विस्तारमुखी होती है जिससे यह लोगों को एक–दूसरे से विशेष रूप से बाहर के लोगों से जुड़ने के लिये प्रेरित करती है। इससे लोगों को बाहर की अच्छाइयों को जानने, उन्हें अपनाने और अपने को अच्छा, उन्नत व मजबूत बनाने का मौका मिलता है। साथ ही, इससे उन्हें बाहर के लोगों को आकने, उनके साथ अपना तालमेल बिठाने तथा उनसे यदि आगे नहीं निकल सके तो कम से कम बराबरी में चल पाने की चुनौती मिलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखता से व्यक्ति को दूसरों से आगे निकलने और सतत आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है और वह प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होता है और जब व्यक्ति प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होते हैं तो समाज भी प्रगति व विकास की ओर अग्रसर होता है।

(4) आदर्श संरचना खुली व पारगम्य होती है। खुलापन व पारगम्यता व्यक्ति व समाज को प्रगति व विकास के लिये निर्बाध अवसर प्रदान करते हैं जिससे उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके बरक्स बन्धन व अपारगम्यता व्यक्ति व समाज की प्रगति व विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध करते हैं। प्रगति व विकास के अवरुद्ध होने से समाज कमजोर व अवनत होता है।

(5) आदर्श संरचना की द्वितीयक कसौटी के तहत पाँचवीं विशेषता यह है कि वह समाज में निर्बाध आदान–प्रदान को बढ़ावा देती है। दरअसल, मुक्तता एवं निर्बाध आदान–प्रदान की स्वतंत्राता आधुनिकता एवं प्रगति की निशानी हैं क्योंकि इनके चलते लोगों को स्वतंत्र निर्णय लेने और पहल करने की पूरी आजादी होती है, जिससे वे बढ़–चढ़ कर प्रयास करते हैं, आगे बढ़ते हैं और इस प्रकार अपने साथ समाज को उन्नति के ऊँचे मुकाम तक ले जाने में कामयाब होते हैं। इसके बरक्स बन्धन व सीमायें लोगों की पहल करने की क्षमता को कुण्ठित करती हैं जिससे व्यक्ति व समाज का विकास अवरुद्ध होता है। परिणामस्वरूप, समाज पतन व पराभव को प्राप्त होता है।

(6) आदर्श संरचना की छठी द्वितीयक कसौटीगत विशेषता यह है कि वह ग्रहणशील व निरसनशील होती है। ग्रहणशीलता व निरसनशीलता आदर्श संरचना की एक अप्रतिम विशेषता है। ग्रहणशीलता संरचना का वह गुण है जिसके चलते वह बाहर की ऐसी विशेषताओं, जो उसे बनाये रखने, सशक्त करने तथा विकास करने में सहायक हों, को आसानी से ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार, निरसनशीलता भी आदर्श संरचना का एक महत्वपूर्ण गुण है जिसके चलते संरचना को ऐसी विशेषताओं, जो समय के साथ उसे बनाये रखने और आगे की ओर ले जाने में उपयोगी नहीं रह जाती हैं, को निरसित करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(7) आदर्श संरचना का सार्वकेन्द्रित होना उसकी सातवीं द्वितीयक विशेषता निरूपित की जा सकती है। सार्वकेन्द्रितता आदर्श संरचना की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है क्योंकि सार्वकेन्द्रिता विस्तार को बढ़ावा देती है और विस्तार सामूहिकता, साहचर्य एवं विकास को बढ़ावा देता है। सामूहिकता व साहचर्य सामाजिक संगठन एवं एकता को मजबूत करते हैं और एकता सामाजिक प्रगति एवं विकास को बढ़ावा देती है। अतः सामाजिक संगठन को मजबूत करने एवं सामाजिक विकास को बढ़ावा देने में सहायक होने की वजह से सार्वकेन्द्रितता को आदर्श संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता निरूपित किया जा सकता है।

आदर्श संरचना के रेखांकन में ध्यान में रखी जाने वाली बातें

आदर्श सामाजिक संरचना की कसौटियों के निर्धारण के बाद अगला कार्य उसकी संकल्पना को रेखांकित करना रहता है। ऐसा करते समय अगर कुछ बातों को ध्यान में रखा जाता है और रेखांकन में उनके प्रति सावधानी बरती जाती है तो आदर्श समाज की संरचना के परिकल्पित स्वरूप में त्रुटियाँ नहीं होने के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। इन बातों में एक तो यह कि ऐसी संरचना को आकार दिया जाए जो आदर्श संरचना की कसौटियां पर खरी उतरती हो। दूसरी यह कि आदर्श भारतीय समाज का संरचनात्मक स्वरूप ऐसा हो जिसमें वे कमियाँ न हों जिनकी वजह से अतीत में बौद्धिक व बौद्धकालीन सशक्त व उन्नत आदर्श भारतीय समाज आगे चलकर पतन व पराभव को प्राप्त हुआ। तीसरी यह कि इस आदर्श संरचनात्मक प्रारूप में वे कमजोरियाँ नहीं हों जिनकी वजह से स्वतंत्राोपरांत संविधानगत संरचना के तहत गठित भारतीय समाज विगत लगभग सत्तर वर्षों के

प्रयासों के बावजूद एक संगठित, एकता व विकासपरक सशक्त व उन्नत आदर्श समाज नहीं बन पा रहा है और न ही उसके ऐसा बनने की दूर–दूर तक कोई संभावना दिखाई देती है।

आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना के रेखांकन में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान इस बात पर रखा जाता है कि संरचना ऐसी हो जो आदर्श समाज की प्राथमिक एवं द्वितीयक कसौटियों से सम्बन्धित विशेषताओं पर पूरी तरह खरी उतरे। इस सम्बन्ध में बरती जाने वाली दूसरे प्रकार की सावधानी का जहाँ तक प्रश्न है उसके विषय में कहा जा सकता है कि अतीत में भारतीय समाज के पतन विशेष रूप से पराभव के मूल कारण आंतरिक हैं क्योंकि कोई समाज जब तक आंतरिक रूप से कमजोर नहीं होता है तब तक कोई बाह्य समाज उस पर अपना आधिपत्य कायम नहीं कर पाता है। और कोई समाज आंतरिक रूप से कमजोर आंतरिक कारणों से ही होता है (सिंह, 2017 अ)। अतीत में वैदिक एवं बौद्ध काल में भारतीय समाज जब आंतरिक रूप से मजबूत था तब वह सशक्त, समृद्ध व उन्नत ही नहीं अपितु विश्व में अग्रणी भी था। किन्तु स्मृतिकाल में जब वह आंतरिक कारणों विशेष रूप से अन्याय व भेदभावपरक विधान एवं अन्याय व भेदभावपरक सामाजिक संरचना की वजह से आंतरिक रूप से कमजोर हो गया तो न केवल पराभूत हुआ बल्कि लम्बे समय तक पराधीनता का संत्रास झेलने को विवश हुआ (सिंह, 2017 बः 7–23)।

अतीत में भारतीय समाज के पतन व पराभव के आंतरिक कारणों में सांसारिकता से विरक्ति, विशेष रूप से अतिशय असांसारिकता, आत्मकेन्द्रितता, परंपरावादिता पर जोर, सोच एवं कार्यक्षेत्र का संकीर्ण होना, विस्तारपन की प्रवृत्ति का अभाव एवं संस्कृति का आध्यात्मिकता की ओर अधिक झुकाव तथा वृहद सांगठनिकता व नवीनता की चाह एवं गमनागमन व आदान–प्रदान में खुलेपन का अभाव और सामाजिक संरचना का अन्याय व भेदभावपरक होना आदि प्रमुख हैं (सिंह, 2017 अः3–17)। जहाँ तक वर्तमान में इन कारणों की भारतीय समाज में प्रभाविकता का सवाल है, अगर यह कहा जाए कि संप्रति आधुनिक शिक्षा के प्रसार, विज्ञान व तकनालॉजी के विकास एवं सूचना प्रौद्योगिकी में क्रांतिकारी परिवर्तन तथा औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के बढ़ते प्रभाव आदि के चलते ये कारण शनैः–शनैः शिथिल पड़ते जा रहे हैं तो कदाचित गलत नहीं होगा। अतः इस संदर्भ में आदर्श संरचना के रेखांकन में महत्वपूर्ण बात जिस पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है वह यह है कि आदर्श संरचना में न तो स्मृतिकालीन शास्त्रागत संरचना के और न ही अन्य किसी प्रकार के कोई अन्याय व भेदभावपरक तत्व सम्मिलित हों।

आदर्श संरचना के निरूपण में बरती जाने वाली तीसरी सावधानी के तहत जहाँ तक क्षेत्रवाद, भाषावाद, भ्रष्टाचार, राजनीतिक तुष्टिकरण, राजनीति में वंशवाद, गिरोहवाद एवं अपराधिक तत्वों का बढ़ता प्रभाव, नौकरशाही एवं प्रशासनतंत्र की धीमी कार्य प्रगति तथा जिम्मेदारी से बचने की प्रवृत्ति आदि कमजोरियों, बहुत कुछ जिनकी वजह से संविधानगत संरचना के तहत भारतीय समाज विगत लगभग सत्तर सालों से सतत प्रयास करने के बावजूद अपेक्षानुरूप सशक्त व उन्नत नहीं हो पा रहा है, से बचने का सवाल है, इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ये कमजारियाँ ऐसी नहीं हैं जिन्हें प्रशासन के स्तर पर दूर नहीं किया जा सकता है। समय के साथ राजनीति, कानून एवं प्रशासन के क्षेत्रों में लाये गये सुधारों के माध्यम से इन कमजोरियों को किसी हद तक दूर किया गया है और जो रह गई हैं उन्हें यदि पूरी ईमानदारी व प्रतिबद्धता के साथ प्रयास किया जाता है तो दूर कर पाना मुश्किल नहीं होगा। वैसे इन समस्याओं के त्वरित निराकरण को ध्यान में रखते हुये आदर्श संरचना

की परिकल्पना के तहत संसदीय शासन प्रणाली की जगह एक अधिक मजबूत, सक्षम व प्रभावी शासन प्रणाली को रखे जाने पर विचार किया जा सकता है।

संरचनात्मक विकल्प की पहल

खासतौर पर स्मृतिकाल के दौर में शास्त्रकारों ने संवर्गीय स्वार्थ के वशीभूत होकर अन्याय व भेदभाव पर आधारित वर्णाश्रम धर्म, कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी वैचारिकी के संरक्षण में शास्त्रीय विधानों की रचना के माध्यम से जातिपरक शास्त्रागत संरचना का ऐसा करिश्माई जाल बिछा रखा था जिसे स्वतंत्रातोपरांत संविधान के माध्यम से एक झटके में तोड़कर उसकी जगह एक न्याय, एकता व विकासपरक आदर्श संरचना का ढांचा खड़ा कर पाना संभव नहीं था क्योंकि जाति व धर्म, विशेष रूप से हिन्दू धर्म का ब्राह्मणिक संस्करण, जैसी मजबूत शक्तियाँ इनकी रक्षा कर रही थीं जो जहाँ अत्यधिक ताकतवर थीं वहीं उनकी जड़ें समाज में इतनी गहरी पैठी हुई थीं कि वहाँ से उन्हें उखाड़ फेंकना बहुत कुछ नामुमकिन था। इसके अलावा एक अन्य मुश्किल यह थी कि जिस सामग्री से आदर्श संरचना को बुना जाना था उसका महिला, शूद्र, अतिशूद्र सहित लगभग पचहत्तर प्रतिशत भाग को शास्त्रीय विधानों के तहत अपंग बनाकर बेकार कर दिया गया था और लगभग आठ–नौ प्रतिशत जनजातीय समाज को मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर न प्रदान कर आधुनिक जरूरतों के संदर्भ में बहुत कुछ अनुपयोगी बना दिया गया था। अतः स्वतंत्रातोपरांत इन अस्सी, पच्चासी फीसदी जर्जर ईंटों से आदर्श समाज रूपी महल खड़ा कर पाना संभव नहीं था।

आदर्श संरचना को जिन ईंटों पर खड़ा किया जाना था अगर वे जर्जर हो गई थीं तो उसे खड़ा करने के पहले उनकी मरम्मत कर उन्हें उपयोगी स्वरूप प्रदान करना जरूरी था। किन्तु यह कार्य न्याय, नैतिकता व नवोन्मेषिता के सिद्धांतों, जो आदर्श संरचना की आवश्यक पूर्व दशा हैं, को उनके मूल रूप में लागू करते हुये पूरा कर पाना संभव नहीं था। लिहाजा, सिद्धांत रूप में सामाजिक न्याय एवं नागरिक भेदभाव की नीति के तहत जब तक समाज के इन जर्जर भागों को विशेष संरक्षण व सुविधा प्रदान कर उपयोग के लायक सशक्त नहीं कर दिया जाता तब तक संविधानगत संरचना के तहत आदर्श संरचना के इन बुनियादी सिद्धांतों को शिथिल किया जाना जरूरी था। जिसे ध्यान में रखते हुये समाज में इन वर्गों को समान नागरिक अधिकार के साथ विशेष संरक्षण एवं सुरक्षोपाय प्रदान किये गये। ऐसे में यह सवाल बहुत प्रासंगिक हो जाता है कि क्या विगत लगभग सत्तर सालों में संविधानगत संरचना संविधानगत लक्ष्यों को प्राप्त कर सकी है और यदि नहीं तो क्या निकट भविष्य में इसकी कोई संभावना है। इस सम्बन्ध में विगत लगभग सत्तर सालों के अनुभवों से तो बहुत कुछ यही पता चलता है कि संविधानगत संरचना न तो शास्त्रागत संरचना सम्बन्धी विसंगतियों मुख्यतया जिनकी वजह से अतीत में भारतीय समाज पतन व पराभव को प्राप्त हुआ को पूरी तौर पर दूर कर पाई है और न ही निकट भविष्य में ऐसा कर पायेगी, इसकी कोई संभावना है (सिंह, 2017 दः 3–9)। ऐसी स्थिति में इसके विकल्प के रूप में एक स्वतंत्रता, समानता, न्याय, एकता व विकासपरक सशक्त व उन्नत आदर्श सामाजिक संरचना के लिये पहल करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अन्याय व भेदभाव पर आधारित वर्णाश्रम, धर्म, कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी वैचारिकी एवं शास्त्रीय विधानों के तहत आरोपित जाति व धर्म सम्बन्धी अवरोधों, जिनसे संविधानगत संरचना अभी तक पार नहीं पा सकी है, को दूर करने के लिये आदर्श संरचना के तहत निश्चित रूप से अत्यधिक कठोर कदम उठाने होंगे। क्योंकि ऐसा नहीं करने पर जाति का

उन्मूलन संभव नहीं है और जाति के चलते सामाजिक न्याय एवं नागरिक भेदभाव की नीति के तहत बरती गई शिथिलता यदि अनवरत चलती रही है तो बहुत संभव है कि इसकी परिणति भी बहुत कुछ शास्त्रागत जातिपरक संरचना के दौर की भांति भारतीय समाज के पतन व पराभव में ही हो।

भारतीय संदर्भ में चूंकि जाति और धर्म, स्वतंत्रता, समानता, न्याय व एकतापरक, मुक्त व पारगम्य सामाजिक संरचना की स्थापना के मार्ग में अत्यधिक सशक्त अवरोध हैं और चूँकि इनकी जड़ें समाज में बहुत गहरी पैठी हुई हैं, इसलिये आदर्श सामाजिक संरचना के तहत इन्हें विनिष्ट या पूर्णतया परिसीमित करने हेतु कठोर प्रावधानों को लागू करना जरूरी होगा। ऐसे में इन कठोर प्रावधानों को लागू किये जाने के विरुद्ध संभावित सशक्त जनविरोध को निष्प्रभावी करने में होने वाली भारी जन–धन की हानि से बचने की दृष्टि से आदर्श संरचना को स्थापित करने के पूर्व, मध्यम मार्ग के रूप में एक पूर्वगामी आदर्श संरचना को संक्रमणकालीन प्रयोग के तौर पर आजमाया जाना खासतौर पर दो दृष्टियों से श्रेयष्कर होगा। एक तो इस दृष्टि से कि इससे आदर्श समाज की रचना को साकार करने के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण होगा। जिससे कि उसे लागू किये जाने पर बिना अधिक विरोध के लोग उसे अपना सकें। दूसरे, इस दृष्टि से कि यदि यह प्रयोग कारगर साबित नहीं होता है तो इसकी कमियों को ध्यान में रखते हुये जरूरत के अनुसार आदर्श संरचना की परिकल्पित रूपरेखा में संशोधन कर उसे अधिक कारगर, स्वीकारणीय व प्रभावी बनाया जा सके।

पूर्वगामी आदर्श संरचना

यह संरचना वस्तुतः संविधानगत संरचना का संशोधित रूप है। संविधानगत संरचना विगत लगभग सत्तर सालों से जाति, धर्म, भाषा आदि विभाजनकारी ताकतों तथा आतंकवाद, अलगाववाद एवं भ्रष्टाचार जैसी जटिल समस्याओं से निपटने में बहुत कुछ असमर्थ साबित हो रही है। ऐसे में इन विघटनकारी ताकतों व समस्याओं से सफलतापूर्वक निपटने के उद्देश्य से इसमें कतिपय संशोधन करते हुये इसे पूर्वगामी आदर्श संरचना के रूप में तुलनात्मक रूप से अधिक सक्षम व सशक्त बनाया गया है। मूल रूप से यह एक पंचफलकीय संरचना है। व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्रपति शासनतंत्रा, मिश्रित अर्थतंत्र तथा समान नागरिक विधान सहित धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिाक राज्य इसके घटक तत्व हैं।

समान नागरिक विधानगत व धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य

इन घटक तत्वों में जहाँ तक व्यक्ति एवं मिश्रित अर्थतंत्र का प्रश्न है, ये तत्व दोनों संरचनाओं में समान हैं। दोनों संरचनाओं में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि संविधानगत संरचना की इकाई जहाँ जाति संवर्ग है, वहीं पूर्वागामी आदर्श संरचना की इकाई वर्ग है। इसमें जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। साथ ही, इसमें सार्वजनिक सेवाओं में नियोजन एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश में जाति अथवा आर्थिक स्थिति या अन्य किसी आधार पर किसी प्रकार के आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। इस संरचनात्मक व्यवस्था में नियोजन का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि "सही जगह पर सही आदमी बैठे"। इसमें नियोजन का आधार मात्रा व्यक्ति की योग्यता है। हालांकि पूर्वागामी आदर्श संरचना के तहत समाज के आर्थिक, व्यावसायिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े व कमजोर लोगों को सामान्य प्रतिस्पर्द्धा में अन्य लोगों के समकक्ष खड़े होने में समर्थ व सक्षम बनाने के उद्देश्य से उन्हें शिक्षण, प्रशिक्षण तथा स्वरोजगार आदि क्षेत्रों में राज्य की ओर से आवश्यक सुविधा व सहायता प्रदान किये जाने का प्रावधान उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के अतिरिक्त उन्हें सामाजिक न्याय सुनिश्चित

किये जाने के साथ इस उद्देश्य से भी किया गया है कि इसके माध्यम से वे अपनी उन्नति व विकास के साथ समाज की उन्नति व विकास में भी सार्थक योगदान कर सकें।

दोनों संरचनाओं में एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर इनके तहत अपनाई गई शासन प्रणाली को लेकर है। सामाजिक सद्भाव एवं एकता में बाधक जाति, धर्म, भाषा व क्षेत्रा आदि आद्य निष्ठाओं सम्बन्धी विभाजनकारी ताकतों तथा आतंकवाद, अलगाववाद एवं भ्रष्टाचार जैसी जटिल समस्याओं से निपटने एवं निहित राजनीतिक व संवर्गीय स्वार्थों से प्रेरित पक्षपातपूर्ण विधायी गतिविधियों पर प्रभावी अंकुश लगाने की दृष्टि से संविधानगत संरचना के तहत अपनाई गई लोकतांत्रिक शासन की एक अस्थायी व कमजोर संसदीय प्रणाली की जगह पूर्वगामी आदर्श संरचना में एक तुलनात्मक रूप से स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासन प्रणाली को स्थान दिया गया है।

धर्म निरपेक्ष राज्य दोनों ही संरचनाओं में समान रूप से एक महत्वपूर्ण घटक है। साथ ही, जहाँ तक बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को समान नागरिकता के साथ धार्मिक स्वतंत्राता एवं अन्य मौलिक अधिकार प्रदान किये जाने की बात है इसमें भी दोनों ही संरचनाओं में समानता है। किन्तु दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि पूर्वगामी आदर्श संरचना में जहाँ समान नागरिकता एवं समान नागरिक अधिकार के साथ समान नागरिक विधान की भी व्यवस्था हे, वहाँ संविधानगत संरचना में मात्र इस अपेक्षा, कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा, के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कोई वैधानिक प्रावधान नहीं है।

आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना

भारतीय संदर्भ में आदर्श संरचना की कसौटियों तथा वर्तमान संविधानगत सामाजिक संरचना के सम्मुख उपस्थित समस्याओं और चुनौतियों के निराकरण में आने वाली कठिनाइयों एवं पूर्वगामी आदर्श संरचना के प्रभावी न हो पाने की स्थिति को ध्यान में रखते हुए भारतीय समाज के लिये एक पंचफलकीय आदर्श संरचना की परिकल्पना की गई है। जिसमें व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्रपति शासनतंत्र तथा उदारवादी मिश्रित अर्थतंत्र इसके आधार फलक के छोर और इसके निर्मायक भागों के बीच सम्बन्धों को परिभाषित, नियमित एवं नियंत्रित करने वाले नियमों की रचना एवं उनके अनुमोदन के स्रोत के रूप में लोकतांत्रिक राज्य इसका शीर्ष है।

आदर्श संरचना का केन्द्र व्यक्ति है। चूँकि व्यक्ति के अस्तित्व पर ही समाज और उसकी संरचना का अस्तित्व निर्भर करता है, इसलिये आदर्श संरचना का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति के हितों की रक्षा करना तथा उसे आत्मविकास के लिये आवश्यक स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करना होता है। हालांकि आदर्श संरचना जहाँ व्यक्ति के हितों की रक्षा करती है, उसकी वैयक्तिकता एवं गरिमा को बनाये रखती है और उसे आत्मविकास के लिये आवश्यक स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करती है वहीं उसकी स्वच्छन्दता एवं मनमानी पर अंकुश भी लगाती है। साथ ही, वह उसे अपने व दूसरों के हितों के बीच सामंजस्य बिठाने पर जोर देने के साथ सामाजिक नियमों के तहत बांधकर भी रखती है। इस प्रकार आदर्श संरचना के तहत व्यक्ति और समाज के बीच परस्पर अभिन्न व अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। हालांकि व्यक्ति और समाज दोनों का अपना अस्तित्व और अपनी स्वतंत्रा पहचान होती है किन्तु दोनों एक–दूसरे से इस प्रकार अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं कि एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व

की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज के अभाव में जहाँ व्यक्ति की उन्नति व प्रगति करना तो दूर जीवित रहना मुश्किल होता है वहीं व्यक्ति के अभाव में समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता है।

पूर्वगामी आदर्श सामाजिक संरचना की भांति आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना की इकाई भी वर्ग है। तात्पर्य यह है कि आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना में भी जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है और पूर्वगामी आदर्श संरचना की भांति इसमें भी जाति या आर्थिक या अन्य किसी आधार पर आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। इसमें भी सार्वजनिक सेवाओं में नियोजन एवं उच्च शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश का एकमात्र आधार व्यक्ति की योग्यता है। इसमें भी नियोजन का बुनियादी उद्देश्य "सही जगह पर सही आदमी बैठे" की व्यवस्था करना है।

आदर्श संरचना के तहत आर्थिक गतिविधियाँ उदारवादी अर्थतंत्र के तहत संचालित होती हैं। उदारवादी अर्थतंत्र बहुत कुछ अर्थ में संविधानगत संरचना के मिश्रित अर्थतंत्र का उदारवादी संस्करण है। इसके तहत समाज की आर्थिक गतिविधियों, चाहे वे निजी या सार्वजनिक क्षेत्र के तहत संचालित हों, जहाँ तक वे समाज के हित के लिये खतरा न हों, राज्य के नियंत्राण से पूर्णतया मुक्त स्वतंत्र बाजार के नियमों से संचालित होती हैं। यद्यपि इसके तहत सामाजिक लाभ का एक उल्लेखनीय भाग समाज के शैक्षिक, आर्थिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से पिछड़े लोगों को सामाजिक न्याय सुलभ कराये जाने के अतिरिक्त इस उद्देश्य से इनके सहायतार्थ आरक्षित किया गया होता है कि सामान्य प्रतिस्पर्द्धा में वे अन्य लोगों के साथ बराबरी में खड़ा हो सकने में अपने को समर्थ बना सकें और समाज की प्रगति में सार्थक योगदान कर सकें (सिंह, 2018 ब:20)।

भारत जैसे विषम, बहुल एवं भिन्न हितों व निष्ठाओं वाले समाज में जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि विभाजन एवं विघटनकारी ताकतें सदियों से समाज को कमजोर करती रही हैं। ऐसे में इन विभाजनकारी ताकतों तथा आंतरिक व बाह्य चुनौतियों से निपटने के लिये एक स्थायी व मजबूत शासनतंत्र की आवश्यकता थी। किन्तु स्वतंत्रतोपरांत संविधानगत संरचना द्वारा एक तुलनात्मक रूप से अस्थायी व कमजोर संसदीय शासन प्रणाली के अपनाये जाने से इस आवश्यकता की कारगार ढंग से पूर्ति नहीं हो पाई। जिसे ध्यान में रखते हुये आदर्श संरचना में उसके स्थान पर एक तुलनात्मक रूप से स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासनतंत्र को अपनाया गया है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय एकता तथा समेकित द्रुत विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आदर्श संरचना के तहत वर्तमान अस्थायी व कमजोर संसदीय शासन प्रणाली की जगह एक स्थायी व मजबूत राष्ट्रपति शासन प्रणाली को स्थान दिया गया है।

पूर्वगामी आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना तथा आदर्श भारतीय सामाजिक संरचना के निर्मायक घटकों में लोकतांत्रिक राज्य तो सामान्य है किन्तु लोकतांत्रिाक राज्य की धार्मिक प्रकृति का जहाँ तक सवाल है दोनों संरचनाओं में मौलिक रूप से भिन्नता है। पूर्वगामी आदर्श संरचना में संविधानगत संरचना की भांति लोकतांत्रिक राज्य धर्मनिरपेक्ष है किन्तु आदर्श सामाजिक संरचना में लोकतांत्रिक राज्य धर्मविहीन है। धर्मनिरपेक्षता व धर्मविहीनता में मौलिक भेद है। राज्य के धर्म निरपेक्ष होने का अर्थ है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा। धर्म के मामले में राज्य तटस्थ होगा और बिना किसी विशेष परिस्थिति के धार्मिक मामले में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। धर्मविहीनता का जहाँ तक प्रश्न है, यद्यपि इसका अर्थ धर्म के अस्तित्व को नकारना तो नहीं है किन्तु सामाजिक जीवन में धर्म की भूमिका को पूर्णतया समाप्त करना अवश्य है। धर्मविहीन राज्य में निजी जीवन में चिन्तन

एवं अंतःकरण की शुद्धि तथा आचरण के परिमार्जन के साधन के रूप में धर्म का अस्तित्व तो बना रहता है किन्तु सामाजिक क्रियाकलाप में इसकी कोई भूमिका नहीं होती। धार्मिक शिक्षा, धर्म के प्रचार प्रसार व धार्मिक संगठनों के निर्माण पर प्रतिबंध होता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर तथा मठ एवं विहार राज्य की सम्पत्ति होते हैं जिन्हें सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति में प्रवर्तित व प्रयुक्त करने का राज्य को पूरा अधिकार होता है (सिंह, 1999:65)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकतांत्रिक राज्य की धर्मगत प्रकृति में भिन्नता को छोड़कर दोनों संरचनाओं के निर्मायक अन्य सभी घटक कमोवेश सभी मायनों में एक–दूसरे के समान हैं।

संप्रति, भारत में धर्म समाज को बांटने व कमजोर करने वाली ताकतों में जाति सहित अन्य सभी ताकतों से कहीं कई गुना मजबूत ताकत है। इसके दो प्रधान कारण हैं। एक तो यह कि अन्य विभाजनकारी ताकतों की समाज में पैठ उतनी गहरी और उनकी पकड़ उतनी व्यापक और मजबूत नहीं है जितनी कि धर्म की है। दूसरे यह कि अन्य विभाजनकारी ताकतों को किसी अन्य विधा या माध्यम से यदि प्रस्थापित नहीं तो कम से कम कमजोर अवश्य किया जा सकता है। किन्तु मानव चूँकि एक चेतन एवं सामाजिक प्राणी होने के साथ एक सांस्कृतिक प्राणी भी है और चूँकि संस्कृति का आस्था, अध्यात्म और अलौकिक पक्ष चेतनोपरि, इन्द्रियोपरि एवं लौकिकोपरि है अर्थात तर्क, बुद्धि व इन्द्रियात्मक ज्ञान से ऊपर या श्रेष्ठ है, इसलिये इसको विशेष रूप से धर्म, जो इसका अभिन्न और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है, को कमजोर करना बहुत मुश्किल और प्रस्थापित कर पाना तो बहुत कुछ नामुमकिन है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज की स्थिति में किसी अन्य स्रोत द्वारा धर्म को प्रस्थापित कर पाना संभव नहीं है। किन्तु समाज मूल है। धर्म समाज की तुलना में गौण है। क्योंकि धर्म समाज की उपज है, समाज धर्म की उपज नहीं है। और जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है वह धर्म के बिना तो रह सकता है किन्तु समाज के बिना उसका जी पाना मुश्किल है। समाज के अभाव में मनुष्य यदि जी सकता भी है तो वह एक मनुष्य की भांति नहीं बल्कि एक जानवर की भांति ही जी सकता है और जानवरों के बीच किसी अकेले मनुष्य के लिये अपने को बचा पाना आसान नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म अगर समाज के अस्तित्व के लिये खतरा है तो वह व्यक्ति के अस्तित्व के लिये उससे कहीं बड़ा खतरा है।

उपुर्यक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारत में धर्म अगर समाज के अस्तित्व के लिये खतरा बनता है और इस खतरे से निपटने में समान नागरिक विधान आधारित धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक राज्य सम्बन्धी पूर्वगामी आदर्श संरचना का प्रयोग यदि सफल नहीं होता है तो समाज और व्यक्ति की रक्षा के लिये आदर्श संरचना के तहत धर्मविहीन लोकतांत्रिक राज्य के माध्यम से सामाजिक जीवन में धर्म के परिपालन पर रोक लगाने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प नहीं है। हालांकि आदर्श संरचना के तहत राज्य के धर्मविहीन होने के बावजूद निजी जीवन में धर्म के परिपालन की आजादी बनी रहने से मानव जीवन में धर्म के अस्तित्व को समाप्त नहीं किया गया है, फिर भी, इस बात की प्रबल संभावना है कि धर्माचार्यों व धार्मिक कर्मकाण्डियों के एक बड़े वर्ग द्वारा, जो सदियों से धर्म के नाम पर अपनी रोजी–रोटी चलाता आ रहा है और जो धार्मिक सत्ता पर अपनी पकड़ तथा इस आधार पर लोकतांत्रिक व्यवस्था में वोट की राजनीति को प्रभावित करने की अपनी क्षमता के कारण समाज पर अपना प्रभाव भी रखता है, इस प्रतिबन्ध का पूरी ताकत के साथ विरोध किया जाए। विरोध तो धर्म के नाम पर अपनी राजनीतिक

रोटियाँ सेंकने वाले राजनेता और उनके समर्थक भी कर सकते हैं और बहुत संभव है कि भारत की धर्मभीरू जनता भी दबे सहमे इसका विरोध करे। थोड़ी देर के लिये यदि मान लिया जाए कि जनता इसका विरोध नहीं करेगी तो भी इस बात की प्रत्याभूति नहीं दी जा सकती है कि वह इसे आसानी से स्वीकार कर लेगी। लेकिन भारत में धर्म अगर समाज और व्यक्ति के विकास के साथ उनके अस्तित्व के लिये भी खतरा बनता है तो सामाजिक जीवन में उसकी भूमिका को पूर्णतया परिसीमित किया जाना जरूरी है और इसके मार्ग में आने वाली हर बाधा को दूर करने और इस सम्बन्ध में हर विरोध का सामना करने के लिये राज्य को अधिकाधिक सशक्त और अधिकृत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आदर्श भारतीय समाज की रचना के मार्ग में आने वाली बाधायें एवं चुनौतियाँ और उनका निवारण

संप्रति आदर्श भारतीय समाज की रचना की राह में एक बड़ी चुनौतीपूर्ण समस्या आमजन में यह विश्वास पैदा करने की है कि सार्वजनिक जीवन एवं कार्यकरण में व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार अवसर मिलेगा और सही जगह पर सही आदमी ही बैठेगा। हालांकि यह समस्या जितनी आसान दिखती है उतनी आसान नहीं है किन्तु असाध्य भी नहीं है। वैसे यह मुख्य रूप से सुशासन की समस्या है जिसे राजनीतिक इच्छाशक्ति एवं प्रशासनतंत्र में नैतिकता, दायित्वबोध एवं दक्षता के विकास के माध्यम से हल किया जा सकता है।

आदर्श समाज की रचना के मार्ग में दूसरी बड़ी चुनौती विधायीतंत्र को अपने राजनीतिक एवं संवर्गीय हितों तथा किसी हद तक अपने निकटस्थ व्यापारिक घरानों एवं शीर्ष प्रशासनिक, पुलिस एवं न्यायिक सेवाकर्मियों के हित संवर्धन में पक्षपातपूर्ण विधान बनाने से रोकना है ताकि विधायिका की निष्पक्षता के प्रति लोगों का विश्वास बना रहे और समाज में अन्याय व भेदभावजनक स्थिति पैदा न हो। दरअसल, सामाजिक नियम एवं विधान सामाजिक सम्बन्ध को परिभाषित करते हैं और समाज की रचना को आकार प्रदान करते हैं। चूँकि सामाजिक सम्बन्ध और सामाजिक सम्बन्धों से बनी सामाजिक संरचना के बनने और बने रहने का आधार न्याय है और चूँकि न्याय का निर्धारण सामान्यतया नियम और विधान के आधार पर होता है, इसलिये यदि नियम और विधान निष्पक्ष व न्यायपूर्ण नहीं हुये तो समाज में अन्याय व भेदभाव की स्थिति पैदा होती है जिससे सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना का बना रहना मुश्किल हो जाता है। ऐसा इसलिये क्योंकि अन्याय व भेदभाव के चलते समाज की एकता टूटती है और समाज कमजोर होने के साथ पतन व पराभव को प्राप्त होता है।

अतीत में विशेष रूप से वैदिक एवं बौद्ध काल में जब वर्ण विधान निष्पक्ष व न्यायपूर्ण थे तब वर्णों के बीच सम्बन्ध स्वतंत्रता एवं समानता अर्थात न्याय पर आधारित थे और वर्ण संरचना भी स्वतंत्रता, समानता, नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित न्यायपूर्ण, खुली, पारगम्य व नैतिकतापरक थी। लेकिन आगे चलकर स्मृतिकाल के दौर में विशेष रूप से पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मणशासन काल में जब ब्राह्मण शास्त्रकारों द्वारा अपने व अपने निकट सहयोगी वर्णों के हित संवर्धन में पक्षपातपूर्ण विधानों की रचना की गई और उन्हें वृहत्तर समाज पर लागू किया गया तो स्वतंत्रता, समानता, न्याय और नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित खुली, पारगम्य व लचीली वर्ण संरचना एक बन्द, अपारगम्य व कठोर जाति संरचना में रूपांतरित हो गई। परिणामस्वरूप, भारतीय समाज पतन व पराभव के गर्त में पहुँच गया। ऐसे में अगर हमारा आज का विधाननिर्मायक विधायी वर्ग अपने निहित संवर्गीय व

राजनीतिक स्वार्थों के वशीभूत हो अपने व अपने निकट सहयोगियों (बड़े व्यापारिक घरानों, उच्च प्रशासनिक, पुलिस व न्यायिक सेवाकर्मियों) के हित संवर्धन में अन्याय व भेदभावपूर्ण विधानों की रचना के माध्यम से पुराने इतिहास को फिर दुहराता है तो बहुत संभव है कि हम अपनी आजादी, जिसे हमारी पिछली कुछ पीढ़ियों ने कठिन संघर्ष और कुर्बानी के बाद हासिल किया है, को कहीं फिर से न गवां दें। ऐसे में विधायिका की निहित संवर्गीय स्वार्थों से प्रेरित गतिविधियों को रोकने के लिये उसके द्वारा निजी हित में पारित विधानों को एक प्रवर समिति, जिसमें शिक्षक, किसान, सैनिक, श्रमिक तथ वित्त एवं विधि विशेषज्ञ आदि समाज के प्रमुख वर्गों के सदस्य हों, के समीक्षोपरांत प्रस्तुत अभिमत पर उच्चतम न्यायालय की अभिस्वीकृति के बाद लागू किया जाए अन्यथा निरस्त समझा जाए।

आदर्श समाज की रचना की राह में तीसरी बड़ी चुनौती लैंगिक असमानता एवं भेदभाव को समाप्त करने की है। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उच्च प्रौद्योगिकी के इस युग में जीवन की दशाओं में आये बदलाव, विज्ञान एवं आधुनिक शिक्षा के प्रसार तथा संवैधानिक प्रावधानों के तहत प्राप्त समान अधिकार एवं विशेष सुरक्षा उपायों आदि के चलते विशेष रूप से स्वतंत्रतोपरांत महिलाओं ने जिस तेजी से प्रगति की है उसे देखते हुये इस बात से शायद ही इन्कार किया जा सकता है कि आगे आने वाले कुछ वर्षों में वे समाज में अपने साथ सदियों से होने वाले अन्याय व भेदभावपूर्ण बर्ताव को न केवल पूरी तौर पर समाप्त कर देंगी बल्कि सार्वजनिक जीवन के कई क्षेत्रों में पुरुषों से आगे निकल जायेंगी। महिलाओं की प्रगति की रफ्तार यदि यही रही जो पिछले कुछ वर्षों से उनमें है, तो वह दिन दूर नहीं जबकि विगत लगभग दो–ढाई हजार वर्षों से भारत में चला आ रहा पुरुष प्रधान समाज, महिला प्रधान समाज में रूपांतरित हो जाए। यदि ऐसा होता है, जिसकी संभावना बहुत अधिक है, तो समाज में जो बदलाव आयेंगे उनके बारे में भारतीय महिलाओं की अब तक की भलमनसाहत को देखते हुये एक बात तो निश्चित रूप से कही जा सकती है कि आने वाले समय में महिला प्रधान भारतीय समाज, पुरुष प्रधान भारतीय समाज की भांति कठोर व विद्रूप नहीं होगा जो पुरुषों को महिलाओं की भांति वेश्या, देवदासी अथवा बाजार में बिकने वाली वस्तु में रूपांतरित कर दे (सिंह, 2015 अः 79–106)। हाल में महिलाओं के साथ जो अत्याचार विशेष रूप से बलात्कार की घटनायें हो रही हैं, वे वस्तुतः पुरुषों की हताशा की प्रतीक हैं। कहते हैं कि दिया जब बुझने को होता है तो बहुत चमकता है। पुरुषों की आज जो दरिन्दगी देखने को मिलती है वह बहुत कुछ इसी स्थिति की द्योतक है। यह उनके हाथ से खिसक रही सत्ता की खिसियाहट है। पुरुषों की इस दरिन्दगी को रोकने के लिये इसके विरुद्ध न केवल सख्त कानून के तहत सख्त सजा का प्रावधान किया जाए बल्कि इसे बिना किसी विलम्ब के सख्ती से अमल में भी लाया जाए। यही नहीं बल्कि सजायाफ्ताओं के सजा भुगतने के दृश्य को मीडिया के माध्यम से आमजन तक पहुँचाया जाए ताकि दूसरे लोग ऐसी दरिन्दगी करने का स्वप्न में भी दुस्साहस न कर सकें।

अतीत में आदर्श समाज की संकल्पना को साकार करने के मार्ग में जाति और धर्म अन्य सभी बाधाओं से बड़ी बाधा और अन्य सभी चुनौतियों से बड़ी चुनौतियाँ हैं। अगर भारतीय समाज को आदर्श समाज बनना है तो उसे इन दोनों बाधाओं को पार करना होगा और इन दोनों चुनौतियों से निपटना होगा। इन दोनों चुनौतियों में से कोई भी चुनौती अगर अनुत्तरित रह जाती है तो वह समाज को आदर्श बनाने से रोकने के लिये पर्याप्त होगी। अतीत में जब भारतीय समाज जाति, धर्म और संप्रदाय में बँटा नहीं था, तब वह एक था, मजबूत था और उन्नत था। किन्तु इन बाधाओं के पैदा होने के साथ

समाज परस्पर द्वेष व कलहग्रस्त समूहों में बंट गया, परिणामस्वरूप, अवनत व कमजोर हो गया। नतीजतन, ताकतवर व सम्पन्न होने के बावजूद वह मुट्ठीभर विदेशी आक्रांताओं का सामना नहीं कर सका और हजार–बारह सौ वर्षों तक दासता का दंश झेलने को विवश हुआ।

अगर हम अतीत के इतिहास में जायें तो देखेंगे कि अतीत में भारतीय समाज के पतन व पराभव का प्रमुख कारण जाति रही है। जब समाज में वर्ण थे और वर्ण खुले व पारगम्य थे तब समाज में समरसता थी, सामंजस्य था और एकता थी। किन्तु जाति के अस्तित्व में आने के बाद समाज में एकता का अभाव हुआ क्योंकि असमानता, अन्याय व भेदभावपरक होने के कारण जाति समाज में विभाजन, विघटन व संघर्ष को बढ़ावा देती है। और जब समाज में एकता का अभाव होता है तो उसमें दासता के आने की संभावना बन जाती है। बहुत कुछ अर्थों में जाति के विभाजन एवं विघटनकारी प्रभाव के कारण आम्बेडकर ने इसके उन्मूलन की पुरजोर वकालत की (आम्बेडकर, 1937)। जाति आधारित हिन्दू सामाजिक संरचना को वे एक दोषपूर्ण सामाजिक संरचना निरूपित करते थे। उनका कहना था कि वर्गान्तर और सामाजिक भेद तो सभी समाजों में देखे जा सकते हैं किन्तु विभिन्न स्थिति समूहों में अन्तःक्रिया, अन्तर्योग और अन्तर्युक्तता की दृष्टि से सबमें और जाति में अन्तर है। आचार, विचार और विश्वास में सभी हिन्दू एक हैं किन्तु वास्तविक अर्थ में सब एक समाज या राष्ट्र नहीं हैं बल्कि जातियों का एक संग्रह हैं (कीर, 1981: 270)।

जाति व्यवस्था ने आम्बेडकर (1974:42–44) के अनुसार हिन्दू समाज में असंगठन को जन्म दिया। जातियों के कारण हिन्दू समाज में साम्प्रदायिक जीवन पद्धति का लोप हो गया। अलग–अलग जातियों की जीवन पद्धति में भिन्नता के कारण हिन्दू समाज में आपसी भाईचारा, सहयोग और संगठन कमजोर हो गया जिसके चलते हिन्दुओं में असुरक्षा, भीरूता, कायरता, अलगाव व एकाकीपन का विकास हुआ कि एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से सुरक्षा और सहायता की आशा इसलिये नहीं करता क्योंकि उनमें आपसी भाईचारे का अभाव है। हिन्दुओं में आपसी भाईचारा और सामुदायिक जीवन पद्धति का अभाव इसलिये है क्योंकि उनका सामाजिक ताना–बाना उन्हें एक नहीं बल्कि जातियों के अलग–अलग दड़बों में बन्द करता है। एक हिन्दू दूसरे को अपने से छोटा या बड़ा समझता है। अपने बराबर का भाई नहीं समझता। जिसे दृष्टिगत रखते हुए आम्बेडकर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा कि जब तक हिन्दुओं में जाति विद्यमान है, हिन्दू संगठित नहीं हो सकते। ऐसे में वे कमजोर व निरीह बने रहेंगे। उन्हें दूसरों से अपमान व अत्याचार विवश होकर सहन करना पड़ेगा (सिंह, 2002: 78–79)।

जाति के विनाशकारी प्रभाव को देखते हुए सदियों से बड़े–बड़े मसीहा और सामाजिक–धार्मिक सुधारक इसके निदान में लगे रहे। स्वतंत्रतोपरांत इस दिशा में यथा आवश्यक वैधानिक प्रयास भी किये गये किन्तु हिन्दू समाज सहित भारतीय उपमहाद्वीप के कमोवेश सभी समाजों में जाति ऐसी कुण्डली मारकर बैठ गई है कि जाने का नाम ही नहीं लेती। जाति के उन्मूलन सम्बन्धी यह विवशता लोगों की इस उक्ति से बहुत साफ झलकती है कि "कहते तो हैं इसे जाति, मगर यह जाती नहीं है।" वैसे भारतीय समाज में जाति भले दीर्घकाल से चली आ रही है और अतीत में इसके उन्मूलन के प्रयासों में भले ही सफलता नहीं मिल पाई है, फिर भी, अतीत की भांति अगर यह आज भी न केवल समाज की प्रगति बल्कि अस्तित्व के लिये भी खतरा बन गई है तो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये इसे हर हालत में उन्मूलित करना ही होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, आदर्श भारतीय समाज की परिकल्पना में जाति को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि आदर्श समाज की संरचना में जाति को कोई स्थान नहीं दिये जाने से व्यावहारिक धरातल पर जाति का उन्मूलन हो जायेगा, यह मान लेना सही नहीं है। वैसे यह सही है कि जाति का उन्मूलन मुश्किल है और यह भी सही है कि लम्बे समय से इसमें सफलता नहीं मिली है किंतु इस आधार पर यह मान लेना कि भविष्य में भी ऐसा ही होगा यह सही नहीं है। जाति का उन्मूलन मुश्किल जरूर है किन्तु नामुमकिन नहीं है। एक सामाजिक संस्था के रूप में जाति की जड़ कठोर, मजबूत व स्थायी हो सकती है किन्तु शाश्वत या अउन्मूलनकारी नहीं हो सकतीं। ऐसा इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि जिन भौतिक, तकनीकी तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक परिस्थितियों में इसका विकास हुआ वे अब नहीं हैं और जिन संस्थाओं के द्वारा यह संपोषित व संरक्षित होती रही हैं वे अब समाप्त या प्रभावहीन हो गई हैं, ऐसे में जाति का बना रहना संभव नहीं है। इसका समाप्त होना निश्चित है, इस बात में इन्कार नहीं किया जा सकता है। विज्ञान विशेष रूप से उच्च प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में भौतिक व तकनीकी दशाओं में आये क्रांतिकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक व्यवस्थाओं में आये आमूलचूल बदलाव के कारण जाति की जड़ें काफी कमजोर हो गई हैं। वैसे भी, यह एक सर्वमान्य सत्य है कि क्रांतिकारी परिवर्तन के परिणामस्वरूप इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होती। लोकतंत्रा का विकल्प सामंतवाद नहीं हो सकता। विज्ञान का विकल्प पोथीवाद या पुरोहितवाद नहीं हो सकता। सामंतवाद और पुरोहितवाद के अभाव में जाति व्यवस्था का टिकना मुश्किल है। इसलिये भारत में जाति व्यवस्था का भविष्य अंधकारमय है। जाति के समाप्त होने में सन्देह नहीं है, इसमें देर हो सकती है (सिंह, 2015 बः 217)।

आज के संदर्भ में अगर यह कहा जाए कि भारत में आदर्श समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा धर्म है तो कदाचित गलत नहीं होगा। वैसे भी धर्म अपनी रूढ़िवादी एवं आग्रहमूलक प्रकृति के कारण कमोवेश सभी समाजों में प्रगति एवं विकास को बहुत कुछ अन्यथा ही प्रभावित करता है। किन्तु भारत जैसे बहुधर्मी देश में, जहाँ कुछ धर्म, सहिष्णु, उदार एवं कम आग्रही हैं, कुछ इन विषयों में सामान्य व मध्यम है, जबकि कुछ असहिष्णु, अनुदार व आग्रही और कुछ अत्यधिक असहिष्णु, अत्यधिक अनुदार व अत्यधिक आग्रही हैं, धर्म के मामले में राज्य के तटस्थ होने और किन्हीं विशेष स्थितियों का छोड़कर धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर चलने के कारण धर्मों की प्रकृति में यह भिन्नता सामाजिक सामंजस्य एवं एकता को कमजोर करती है। जिसके चलते समाज की प्रगति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है।

अतीत के अनुभव से तो यही पता चलता है कि अपने आग्रहमूलक एवं विभाजनकारी स्वभाव के कारण भारतीय समाज में धर्म, धार्मिक समूहों के बीच सद्भाव, सौहार्द्र व एकता के विकास में बहुत बाधक रहा है। धर्म के आधार पर देश का बँटवारा हुआ। धार्मिक आधार पर देश के बँटवारे के बावजूद स्वतंत्रातोपरांत भारत में लोकतांत्रिाक संविधान को अपनाते हुये धर्मनिरपेक्ष राज्य को अधिमान्यता दी गई तथा बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को बुनियादी विषयों में स्वतंत्रता, विधि के समक्ष समानता तथा धार्मिक अधिकारों सहित अन्य मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। इन सकारात्मक एवं उदारवादी व्यवस्थाओं को लागू किये जाने के साथ सोचा यह गया कि अब देश में सांप्रदायिक समस्या हमेशा के लिये खत्म हो जाएगी। किन्तु स्वतंत्रातोपरांत संविधान लागू हाने के

लगभग सत्तर सालों के बाद भी न तो ऐसा कुछ हुआ और न ही इस संविधानगत संरचना के तहत ऐसा कुछ हो पाने की संभावना दिखाई देती है।

हाल के वर्षों में जिस तेजी से धार्मिक कट्टरता और जिहादी आतंकवाद का दुनिया में प्रसार हुआ है, उससे कमोवेश पूरा विश्व आक्रांत है। उग्र धार्मिकता और विनाशकारी जिहादी आतंकवाद के चलते आज दुनिया के कई देशों में लम्बे समय से चल रहे खूनी संघर्ष रूकने का नाम नहीं ले रहे हैं। वेसे छोटी–मोटी आतंकवादी गतिविधियाँ तो आये दिन यूरोप, अमेरिका, एशिया व अफ्रीका सहित विश्व के कमोवेश सभी महाद्वीपों में चलती रहती हैं। हालांकि भारत में स्थिति अभी काफी नियंत्रण में है किंतु समय रहते यदि धार्मिक कट्टरता एवं साम्प्रदायिकता जैसी जटिल व्याधियों के रोकथाम व निवारण की ठोस व्यवस्था नहीं की गई तो भारत की स्थिति भी मध्यपूर्व के देशों जैसी होने में देर नहीं लगेगी।

धार्मिक कट्टरता व सांप्रदायिकता जैसे शक्तिशाली जहर को सामाजिक सद्भाव, प्रेम व भाईचारे पर आधारित शांतिपूर्ण संवैधानिक तरीके से रोक पाने से सम्बन्धित प्रयोग कमोवेश पूरी दुनिया में सफल नहीं हो पाये हैं। चिकित्सा विज्ञान का भी कुछ ऐसा ही मानना है कि जहर का इलाज अमृत से नहीं हो सकता है। जहर का इलाज तो जहर या उससे कहीं अधिक कड़े जहर से ही हो सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, आदर्श भारतीय समाज की संरचना में धर्म को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में इसके परिपालन को पूर्णतया प्रतिषिद्ध किया गया है। साथ ही, इस व्यवस्था के विरुद्ध किसी प्रकार के विरोध से निपटने के लिये राज्य को कड़े से कड़े कदम उठाने के लिये अधिकृत भी किया गया है। ये प्रावधान कड़वे, कष्टप्रद कठोर हो सकते हैं किन्तु, जिस तरह की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं उन्हें देखते हुए तो यही लगता है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता, और अस्तित्व की रक्षा के लिये इन्हें लागू करने के अलावा हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आम्बेडकर, बी.आर. 1937 एनिहिलेशन ऑफ कास्ट बाम्बे, पापुलर प्रकाशन

आम्बेडकर, बी.आर. 1974 जाति भेद का उच्छेद (एनिहिलेशन ऑफ कास्ट का हिन्दी अनुवाद) झींमक (कानपुर) डॉ. आम्बेडकर साहित्य रक्षा परिषद

आम्बेडकर, बी.आर. 1980, बुद्धा एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिजरेलिजन जालंधर, भीम पत्रिका प्रकाशन।

कीर, धनंजय 1981 आम्बेडकरः लाइफ एण्ड मिशन्स बाम्बे, पापुलर प्रकाशन

सिंह, रामगोपाल 1999 सामाजिक न्याय लोकतंत्रा और जाति व्यवस्था जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स।

सिंह, रामगोपाल 2002 डॉ. आम्बेडकर का जीवन एवं विचार दर्शन भोपाल, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।

सिंह, रामगोपाल 2015 अ भारतीय समाज में महिला पुरुष सम्बन्ध के बदलते प्रतिमान जयपुर, नेशनल पब्लिकेशन्स।

सिंह, रामगोपाल 2015 ब भारतीय समाज भोपाल, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।

सिंह, रामगोपाल 2017 अ भारतीय समाज के पराभव के कारणों का विवेचन जनमत स्वर 17(11):3–17

सिंह रामगोपाल, 2017 ब संविधानपूर्व सामाजिक संरचना जनमत स्वर 18(2):17–23
सिंह रामगोपाल, 2017 स संविधानगत सामाजिक संरचना के घटक तत्व रचना 128:70–79
सिंह, रामगोपाल 2017 द संविधनगत अपेक्षायं कहाँ तक पूरी हुईं जनमत स्वर 18(3):3–9
सिंह, रामगोपाल 2018 अ आदर्श समाज की कसौटियाँ जनमत स्वर 18(6): 10–18
सिंह रामगोपाल 2018 ब आदर्श भारतीय समाज की संकल्पना जनमत स्वर 18(7): 18–22